



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2020; 6(4): 148-152

© 2020 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 07-04-2020

Accepted: 15-05-2020

Dr. JR Kashyap

Associate Professor in Sanskrit,
Govt. College Solan Distt. Solan,
Himachal Pradesh, India

अथर्ववेद में व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिये वर्णित सिद्धान्तों की वर्तमान उपादेयता

Dr. JR Kashyap

प्रस्तावना

वैदिक साहित्य पुरातनकाल से ही भारतीय संस्कृति की रीढ़ रहा है। आर्यावर्त की पावन धरा पर जन्में असंख्य ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत दैवीय ज्ञान को सहेजने एवं अक्षुण्ण रखने के महनीय कार्य को सम्पादित करने का श्रेय वैदिक साहित्य एवं भारतवर्ष में सदियों से विद्यमान रही गुरु शिष्य परम्परा को जाता है। वैदिक साहित्य ज्ञान का अथाह भण्डार है। मानव जीवन से सम्बद्ध कोई ऐसा विषय नहीं दिखाई देता जिसका वेद-वेदांगों, ब्राह्मण-आरण्यकों एवं उपनिषद्ग्रन्थों में वर्णन न किया गया हो। वैदिक साहित्य में मानवोत्कर्ष (Human Excellence) हेतु बड़ी संख्या में ऐसे विचार रत्नों को प्रतिपादित किया गया है जिनको धारण करने से मानव का व्यक्तिगत विकास तो होता ही है साथ में वह पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं वैश्विक स्तर पर भी एक उपयोगी नागरिक होने की अर्हता को अर्जित कर सकता है। इस प्राचीनतम साहित्य की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में अथर्ववेद दिव्य ज्ञान राशि के पुंज विश्वविख्यात वेदों की शृंखला में चौथा वेद है। बीस काण्डों में विभक्त इस महनीय ग्रन्थ का विपुल कलेवर वर्ण्य विषय की विविधता एवं व्यापकता के लिये वैदिक ज्ञान के पिपासुओं में प्रसिद्ध रहा है। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिये अथर्ववेद में ऐसे असंख्य सिद्धान्तों का चित्रण हुआ है जिनका प्रभाव सर्वव्यापी है तथा उपादेयता की दृष्टि से जो सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। अथर्ववेद ने तात्कालिक एवं भावी पीढ़ी के चारित्रिक उत्थान के लिये जिस बहुमूल्य वैचारिक सम्पदा को संजो रखा है उसे प्रकाश में लाना ही प्रस्तुत शोध पत्र का मुख्य प्रयोजन है। भारतीय मनीषियों के चिन्तन में सदैव मानव समुदाय ही नहीं अपितु जीव मात्र के कल्याण का भाव अनन्य रूप से विद्यमान रहा है। अथर्ववेद को पुष्पित एवं पल्लवित करने वाली ऋषि परम्परा ने जीवन के भिन्न-भिन्न स्तरों पर जिन मापदण्डों को अपरिहार्य माना है उनका दिग्दर्शन निम्न प्रकारेण प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. व्यक्तिगत उत्कर्ष — मानवीय समाज की संरचना का आरम्भ व्यक्ति से ही होता है। व्यक्तियों के समूह को परिवार तथा अनेक परिवारों के समूह को समाहित करने वाली इकाई को समाज की संज्ञा दी जाती है। सामाजिक ताने बाने की प्राथमिक कड़ी के रूप में जिस समाज का व्यक्ति जितना अधिक संस्कारवान् एवं सद्वृत्तिसम्पन्न होता है वह समाज उतना ही अधिक सम्य एवं शालीन माना जाता है। मानव के निर्बाध विकास के लिये तथा सामाजिक समरसता की स्थापना के लिये किसी भी समाज का व्यक्तिपरक उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील रहना अनिवार्य होता है। भारतीय समाज में वेदों ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है और समाज का सही मार्गदर्शन करने में महत्त्वशाली भूमिका का निर्वहण किया है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद कालीन मन्तव्यों पर यदि दृष्टिपात करें तो कहा जा सकता है कि उस सुदूर अतीत में मानव को बार-बार यही प्रेरणा दी गयी है कि वह सदैव अपना ध्यान आत्मोत्थान पर ही केन्द्रित करे। बड़े उदात्त शब्दों में उसे सीख दी गयी है कि अवनति के नहीं बल्कि उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। मानवीय शरीर उत्तम सुख देने वाला रथ है जिससे अमरत्व भी प्राप्त किया जा सकता है। दीर्घायु प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया है जिससे व्यक्ति वृद्धावस्था तक आते-आते अपने संचित अनुभवों का उपदेश भावी पीढ़ी के लिये देते हुए उसका सम्यग् पथ प्रदर्शन कर सके।^[1] जीवन पथ पर अग्रसर प्रत्येक मनुज को सचेत किया गया है कि उसका मन कभी कुमार्ग का आश्रय न ले और यदि कभी चूक हो भी जाए तो उसका मन स्थिर रूप से कुपथगामी न बने। यह भी परामर्श दिया गया है कि अन्य जीवों के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए वह कदापि प्रमाद प्रदर्शित न करे।^[2] अथर्ववेद की प्रबल मान्यता है कि जीवोत्कर्ष के लिये व्यक्ति का शुभ एवं दृढ़ संकल्पवान् होना अनिवार्य होता है। व्यक्ति के अन्तस् में उठने वाले बहुविध संकल्प ही उसकी सभी क्रियाओं को नियन्त्रित करते हैं।

Corresponding Author:

Dr. JR Kashyap

Associate Professor in Sanskrit,
Govt. College Solan Distt. Solan,
Himachal Pradesh, India

जहाँ एक ओर शुभ संकल्प मानव को सन्मार्गाश्रयी बनाते हैं वहीं दूसरी ओर अशुभ उसे कुमार्ग के बीहड़ में भटका देते हैं। अथर्ववेद मानव मात्र को यही उपदेश देता है कि वह सदैव उच्चतम आदर्शों को ही अपने जीवन पथ का ध्येय बनाएँ। “यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः”^[3] अर्थात् मैं श्रेष्ठ चित्तवाले और ज्ञानी पुरुषों से भी श्रेष्ठ होऊँगा। “अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमो”^[4] अर्थात् मैं राष्ट्र के आप्त पुरुषों में उत्तम निज बनकर रहूँ। उक्त दोनों संकल्प निश्चय ही मानवोत्कर्ष के निकष कहे जा सकते हैं। व्यक्ति का चित्त श्रेष्ठ हो जाए, ज्ञानी जनों में वह अग्रणी हो जाए तथा साथ ही राष्ट्र के सम्मान्य महानुभावों में उसका नाम हो जाए और स्वदेश एवं मातृभूमि से उसका अखण्ड निजता का रिश्ता बन जाए, ये सब ऐसी भव्य घटनाएँ हैं जिनका घटित होना व्यक्ति के संकल्प एवं उसके पुरुषार्थ की सघनता पर निर्भर रहता है। उक्त स्थिति में अनायास ही समदर्शिता, समर्पण, विनम्रता एवं देशप्रेम जैसे उत्कृष्ट गुणों का विकास होता है और व्यक्ति के अन्तःकरण से जो दिव्य स्वर प्रस्फुटित होता है वह भी अलौकिक ही होता है—

**जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् । ममेदहकृतावासो मम
चित्तमुपायसि ॥^[5]
मधुमन्ने निष्कमणं मधुमन्ने परायणम् । वाचा वदामि मधुमद्भूयासं
मधुसन्दृशः ॥^[6]**

अर्थात् मेरी जिह्वा के अग्र भाग में मिठास रहे, जिह्वा के मध्य तथा मूल में मधुरता रहे, मेरे कर्म में माधुर्य रहे तथा मेरा चित्त भी मधुर विचारों का मनन करे। मेरा चाल चलन मधुर हो, मेरा आना-जाना मधुर हो तथा मेरे शब्द भी मधुर हों। ऐसा होने से मैं अन्दर-बाहर से मिठास की मूर्ति ही बनूँगा। वैदिक ऋषि की आर्ष प्रतिभा से उपजा यह सूक्ष्म ज्ञान सांसारिक व्यवहारों में संलग्न सर्वसाधारण के लिये महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। आत्मशोधन की इतनी सरल एवं युक्तियुक्त विधि अन्यत्र मिल पाना कठिन ही प्रतीत होता है। जिस व्यक्ति के मनन, भाषण और आचरण में मधुरता एवं अनुकूलता का संचार हो जाता है और जिसका आन्तरिक एवं बाह्य व्यक्तित्व सौहार्दपूर्ण हो जाता है वह इह लोक के लिये तो अपनी उपयोगिता सिद्ध कर ही लेता है साथ में निःश्रेयस सिद्धि हेतु भी उसकी पात्रता सशक्त हो जाती है। इसी प्रकार सांसारिक दायित्वों का निर्वहण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को यह भी निर्देश दिया गया है कि वह कदापि पराजय, अपकीर्ति एवं अयश आदि का भागीदर न बनें तथा विद्वेषकारी एवं कूटिल विचारों को अपने समीप न आने दें।^[7] जगत की नियामक सत्ता का उसे कभी विस्मरण न हो अपितु उसके मन में सदैव इस अनिर्वचनीय सत्ता के प्रति गहन कृतज्ञता का भाव विद्यमान रहे। अथर्ववेद का विधान है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दिन, पक्ष, मास, वर्ष, अयन तथा संवत्सर आदि कालावयवों को भूतपति ईश्वर के यजन के लिये समर्पित करे।^[8] व्यक्तिगत उत्कृष्टता हेतु उक्त मूल मंत्र निश्चय ही रामबाण सदृश है। ऋषि का तपोपूत मानस इस बात से पूर्णतः परिचित है कि ईश्वर का स्मरण करते हुए जो व्यक्ति अनवरत उसके सान्निध्य में निवास करता है वह जीवन में हमेशा ही सभी प्रकार की दुर्भावनाओं एवं दुराग्रहों से बचा रहता है। निश्चल एवं निष्कपट भाव से ही व्यक्ति जगत कल्याण रूप महत्कार्य का निष्पादन कर सकता है और इसी में उसका स्वोत्कर्ष भी निहित होता है। निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि अथर्ववेद मानवीय समाज के लिये एक ऐसे व्यक्ति को ही उपयुक्त मानता है जो अभ्युदयशील हो, जिसके संकल्प उच्च एवं शुभ हों, जो कर्तव्यपरायणता के साथ-साथ सह अस्तित्व की भावना का सम्मान करता हो तथा जिसका स्नेह सिकत आचरण-विचरण समाज में मधुर सम्बन्धों का निर्माण करने में सहायक हो।

2. पारिवारिक उत्कर्ष — मानवीय समाज की रचना में परिवार वह कड़ी है जहाँ मानव के पारस्परिक सम्बन्धों का ताना बाना बुना

जाता है। सुखद एवं स्वस्थ समाज की परिकल्पना का साकार होना समाज विशेष से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्यों के मधुर सम्बन्धों पर आश्रित रहता है। पारिवारिक सम्बन्ध जितने अधिक प्रगाढ़ होते हैं सामाजिक वातावरण भी उतना ही अधिक सुन्दर होता जाता है। पारिवारिक उत्कर्ष के लिये परिवारजनों का पारस्परिक सामंजस्य एवं उनके सम्बन्धों में आत्मीयता का होना एक अनिवार्य मापदण्ड होता है। इस मापदण्ड की कसौटी पर खरा उतरने वाले परिवार निश्चय ही समाज एवं राष्ट्र के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। अथर्ववेद के ऋषि समुदाय की सूक्ष्म दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण विषय ओझल कैसे रह सकता था? उन्होंने इस विषय में व्यापक चिन्तन करते हुए परिवार के मधुरतापूर्ण सम्बन्धों के लिये एक सुनिश्चित आचार संहिता का निर्धारण किया है। इस आचार संहिता का परिपालन निश्चय ही जहाँ एक ओर पारिवारिक सौमनस्य की दिशा में निर्णायक भूमिका निभाने की क्षमता रखता है वहीं दूसरी ओर यह अनुकूल सामाजिक पर्यावरण का भी आधार हो सकता है।

माता-पिता किसी भी परिवार का आधार होते हैं। माता-पिता ही अपने सुयोग्य प्रयासों से एक संस्कारसम्पन्न परिवार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। ऋग्वेद के अनुसार वे दोनों मधुर वाणी बोलने वाले हों, यशस्वी एवं दानी हों तथा प्रत्येक कठिनाई में बच्चों की सहायता करते हुए उनकी सुरक्षा में तत्पर रहते हों।^[9] एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि पिता को सदैव पुत्र के कल्याण की कामना करते हुए उसके साथ ही निवास करना चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर पुत्र के लिये पिता को सदैव उपलब्ध रहना चाहिए।^[10] अथर्ववेद में भी पिता को निर्देश दिया गया है कि वह पुत्र की हर बात को ध्यानपूर्वक सुनें।^[11] वह पुत्र के सुख की कामना करते हुए एतदर्थ सदैव प्रयत्नशील रहे।^[12] पुत्र के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का दायित्व पिता के कंधों पर ही रहता है। पिता ही अपने ज्ञान गांभीर्य से पुत्र के लिये कर्म मार्ग एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान का उपदेश करता है जिससे पुत्र अपने भावी जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत कर सके।^[13] निश्चय ही पुत्र को सन्मार्गागामी बनाने में पिता पुत्र के सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। दोनों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण होने से एक ऐसे सहज वातावरण का सृजन होता है जिसके आधार पर वे दोनों एक दूसरे के मनोभावों को अच्छी प्रकार से समझने में समर्थ हो पाते हैं। ऐसी परिस्थिति में दोनों सर्वसम्मत भाव से सभी कार्यों को करते हुए निर्विवादरूपेण सांसारिक दायित्वों का सकुशल निर्वहण करते हैं। इससे एक तो परिवार का वातावरण सौमनस्यपूर्ण बना रहता है दूसरे पुरातन और युवा दोनों पीढ़ियों की परस्पर अनुकूलता सुन्दर समाज के निर्माण में भी सकारात्मक रूप से सहायक सिद्ध होती है। अथर्ववेद में सन्तान के प्रति प्रत्येक माता के कर्तव्य की ओर भी संकेत किया गया है। अच्छे संस्कार देकर पुत्र को आदर्श नागरिक बनाने के लिये कृतकार्य रहने को माँ के प्राथमिक कर्तव्य के रूप में स्वीकृति प्रदान की गयी है।^[14] वेद में माता-पिता को अत्यन्त गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठापित किया गया है। माता को पृथ्वी तुल्य तथा पिता को द्युलोक सदृश कहा गया है^[15] क्योंकि माता भूमि के समान जननी, पोषण करने वाली, सब कुछ सहन करने वाली तथा सबको शरण देने वाली होती है तथा जैसे द्युलोक प्रकाश एवं वर्षा आदि से पोषण एवं संरक्षण करता है उसी प्रकार पिता भी आजीवन समूचे परिवार के भरण-पोषण एवं रक्षण का दायित्व सम्भालता है। किसी भी माता-पिता के व्यक्तित्व में ये गुण नैसर्गिक रूप से विद्यमान रहते हैं और उनके इन गुणों के परिणाम स्वरूप ही परिवार निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर हो पाता है अन्यथा दिग्भ्रमित होकर कुपथ पर भटक जाता है। कुमार्ग पर भटकने वाले परिवार अन्ततः पूरे सामाजिक पर्यावरण को कलुषित कर डालते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अथर्ववेद का मत है कि माता-पिता के संयुक्त प्रयासों से ही सुन्दर परिवार का निर्माण होता है और उसी से उदात्त समाज की संकल्पना का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

माता-पिता के अतिरिक्त परिवार के अन्य सदस्यों की भूमिका के विषय में भी अथर्ववेद में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। परिवार के प्रमुख घटक के रूप में सन्तान के कर्तव्यों के विषय में कहा गया है कि पुत्र सदैव पिता के कहे हुए मार्ग का अनुसरण करे तथा माता के साथ समान मन वाला होकर आचरण करे।^[16] उसको कदापि माता-पिता के प्रतिकूल व्यवहार नहीं करना चाहिए। अथर्ववेद में सदाचारी एवं साधुभाव सम्पन्न पुत्र की कामना की गयी है^[17] और साथ में इस बात पर भी बल दिया गया है कि माता-पिता के योग-क्षेम के विषय में सचेत रहते हुए कृतकार्य रहना सन्तान का परम पुनीत कर्तव्य होता है।^[18] माता-पिता की हिंसा को पापजनक कहकर उसे वर्जित बताया गया है।^[19] सन्तान के पश्चात् भाई-बहन के पारस्परिक सम्बन्धों की अनुकूलता को पारिवारिक सौहार्द के लिये महत्त्वपूर्ण बताया गया है। अथर्ववेद की सम्मति में परिवारस्थ भाई-भाई से तथा बहिन-बहिन से वैर-विरोध न करे। सभी एक विचार वाले तथा एक कर्म वाले होकर परस्पर शालीनता से वार्तालाप करें।^[20] विपत्ति के समय दोनों को एक दूसरे का सहायक बनने का परामर्श दिया गया है। 'वह कैसा भाई जिसके रहते बहिन अनाथ हो जाए और वह कैसी बहिन जो लाचार होकर पलायन कर जाए।' ^[21] इसी प्रकार दोनों को व्यभिचार मुक्त नीतिसम्मत जीवन यापन करने का भी परामर्श दिया गया है।^[22]

परिवार में नवविवाहिता कन्या का पदार्पण होना निश्चय ही एक अनूठी एवं सुखद घटना होती है। वैदिक परिवार में भी यह उल्लास का अवसर माना गया है। नवोद्भा बालिका को 'कुल्पा' ^[23] (कुल की रक्षा करने वाली), 'प्रतारणी गृहाणां' (गृह व्यवस्था का संचालन करने वाली) एवं 'सुमंगली' ^[24] (श्रेष्ठ मंगलकारिणी) आदि संज्ञाओं से अलंकृत करके उसका अभिनन्दन किया गया है। अपने माता-पिता के घर लाड़-प्यार से पली बड़ी कन्या पराये घर जाकर अपने लिये एक नये संसार को बसाने का दुष्कर कार्य सम्पन्न करती है। इस यात्रा में वह अपने अन्तस् में अगणित आकांक्षाओं को संजोए रहती है। अथर्ववेद में उसकी इन आशाओं अपेक्षाओं को साकार करने के लिये पति के घर जाने पर उसे महारानी की प्रतिष्ठा से सम्मानित किया गया है— "त्वं सम्राज्ञयेधि पत्युरस्तं परेत्य" ^[25] अर्थात् पतिगृह में पहुँचकर यह वधू स्वयं को उसकी सम्राज्ञी मानकर गृहस्थ साग्राज्य का संचालन करे। इसी प्रसंग में वधू को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि वह सास-ससुर, ननद और देवरों के लिये भी महारानी सदृश हो।^[26] तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जितना उच्च पद पर प्रतिष्ठित होता जाता है उसी अनुपात में उसके उत्तरदायित्वों का भी विस्तार होता रहता है। अथर्ववेद के मतानुसार वधू का यह कर्तव्य है कि वह सम्राज्ञी के समान परिवार के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकताओं का ध्यान रखे। पारिवारिक समरसता के लिये वधू का आचरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। इसीलिये कामना की गयी है कि वह सास-ससुर के लिये मंगलकारिणी हो। सभी परिवार जनों को सुख देती हुई पुष्टदायिनी बनें।^[27] वह घर की व्यवस्था करने में कुशल हो, पति की परिचर्या में संलग्न रहे, श्वसुर को सुख दे तथा सास को आनन्दित करे।^[28] आपात दृष्टि से विचार करने पर उक्त कथन अत्यन्त एकांगी एवं पक्षपातपूर्ण प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तव में तो मानव समुदाय की नारी समाज से इस प्रकार की अपेक्षाएं ही नारी को ममता एवं त्याग की ऐसी मूरत बनाती हैं जिसके सम्मुख भारतवर्ष की समूची संस्कृति नतमस्तक हो जाती है।

पति-पत्नी के आपसी सम्बन्धों एवं परिवार में उनकी भूमिका की चर्चा किये बिना पारिवारिक उत्कर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। अथर्ववेद की सम्मति में पति-पत्नी रथ के दो चक्रों के समान होते हैं।^[29] दाम्पत्य जीवन की डोर में बंधे युगल के मधुर सम्बन्धों पर विशेष बल दिया गया है। दोनों को परामर्श दिया गया है कि वे एक दूसरे को सप्रेम दृष्टि से देखें तथा हृदय में एक दूसरे को स्थान दें। सुखद दाम्पत्य के लिये दोनों के मन के मिलाप को भी अनिवार्य कहा गया है।^[30] इसी प्रकार पति को

चाहिए कि वह अपनी पत्नी को अपनी भुजाओं एवं हृदय में अनन्य आश्रय प्रदान करे जिससे दम्पति का जीवन प्रेम की प्रगाढ़ता से तो भर ही जाता है साथ में पत्नी पति के चित्त के अनुकूल आचरण करने वाली हो जाती है।^[31] पति-पत्नी को चकवा-चकवी के समान स्नेह भाव बनाए रखने की प्रेरणा दी गयी है। श्रेष्ठ सन्तानों के साथ सुन्दर घरों में रहते हुए सांसारिक भोगों को भोगने का भी उन दोनों को परामर्श दिया गया है।^[32] पत्नी परिवार की वह धुरी होती है जिसके इर्द गिर्द गृहस्थ जीवन का चक्र घूमता रहता है। इस तथ्य को स्वीकृति देते हुए अथर्ववेद का मन्तव्य है कि समस्त परिवार के कल्याण के लिये पत्नी का मृदुभाषिणी होना तथा कर्म एवं विचारों से अनुकूल रहना अनिवार्य होता है।^[33] वैवाहिक बन्धन में बंधने वाली प्रत्येक कन्या के लिये दिया गया यह वैदिक उपदेश नितान्त महत्त्वपूर्ण एवं वन्द्य है—

**इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥**^[34]

अर्थात् पति के घर जाकर तुम श्रेष्ठ सन्तानों को उत्पन्न करते हुए स्नेह की अभिवृद्धि करना, इस घर में निवास करते हुए गार्हपत्य अग्नि के प्रति जागरुक रहना अथवा गृहस्थ धर्म के कर्तव्यों के निर्वहण के लिये सदैव तत्पर रहना। पति के साथ एक प्राण एवं एक मन वाली होकर रहते हुए वृद्धावस्था में दोनों पति-पत्नी अपनी सन्तानों को श्रेष्ठ उपदेशों की दीक्षा देना विस्मृत मत करना। इसी प्रकार दाम्पत्य जीवन की महत्ता के प्रति वैदिक संस्कृति का अखण्ड सम्मान निम्न पद्य में परिलक्षित होता है—

**इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
कीडन्तौ पुत्रैर्नृपुभिर्मादमानौ स्वस्तकौ ॥**^[35]

अर्थात् पति-पत्नी दोनों अपने घर में ही साथ-साथ निवास करें। वे दोनों कभी भी एक दूसरे से पृथक न हों। सम्पूर्ण आयु का पूर्णता के साथ उपभोग भी करें एवं उपयोग भी। अपने गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए पुत्र पौत्रादि सन्तानों के साथ आमोद प्रमोद पूर्वक जीवन व्यतीत करें। तात्पर्य यह है कि वैदिक विचार धारा आधे अधूरे मन से नहीं अपितु तल्लीनता एवं पूर्णतः निमग्न भाव से भौतिक सुखों के चरमोत्कर्ष का उपभोग करने की वकालत करती है साथ में जीवन के विभिन्न पड़ावों में अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों के निर्वहण को भी अपरिहार्य मानती है। कौटुम्बिक रिश्तों में बंधे तथा पृथक-पृथक भूमिकाओं को निभाने वाले परिवारजनों को दिया गया यह सन्देश भी वैदिक संस्कृति की अमर धरोहर के रूप में परवर्ती पीढ़ियों के मार्ग दर्शनार्थ शताब्दियों से उपलब्ध रहा है—

**ज्यायस्वन्तश्चितिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चदन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् संमनस्कृणोमि ॥**^[36]

अर्थात् सभी परिवार जन छोटे बड़े का ध्यान रखकर व्यवहार करते हुए समान विचारों का आश्रय लें तथा समान कार्यों को करते हुए कभी पृथक न हों। परस्पर वाग्व्यवहार करते हुए स्नेह पूर्ण मधुर वाणी का प्रयोग हो तथा प्रत्येक सदस्य के मन में एकरूपता हो। अन्ततः निष्कर्षरूपेण यही कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि के मुख से निःसृत दैवीय वाणी रुपी निर्झर में अवगाहन करके कोई भी गृहस्थ अपनी सांसारिक जीवन यात्रा को मनोरम एवं सुखद बना सकता है। अथर्ववेद में पारिवारिक सन्तुलन के लिये जिस विवेक पूर्ण दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया गया है तथा कुटुम्ब के प्रत्येक घटक के लिये सूक्ष्मतापूर्वक जिस निश्चित आचार संहिता का निर्माण किया गया है वह वास्तव अतुलनीय है। वेद वर्णित उपर्युक्त सिद्धान्तों के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए एवं उन्हें अपने व्यवहारिक जीवन में आत्मसात करते हुए वर्तमान मानव भी आज के समाज में

तेजी से हावी हो रही परिवार विघटन जैसी विकृतियों का निराकरण कर सकता है।

3. सामाजिक उत्कर्ष – व्यक्तिगत एवं पारिवारिक उत्कर्ष के समान वैदिक ऋषियों ने सामाजिक उत्कर्ष के लिये भी असंख्य मूल मंत्रों को उद्घाटित किया है। ऋग्वेदीय ऋषि समुदाय अपने उद्बोधन में मानव मात्र को प्रमुख रूप से जिस एक संकल्प को धारण करने का सुझाव देते हैं वो है—“कृष्वन्तो विश्वमार्यम्” [37] अर्थात् हम सभी मिलकर इस संसार को श्रेष्ठ बनाएं जहाँ एक मानव का दूसरे मानव के प्रति नैसर्गिक आत्मीयता का नाता हो। जहाँ मनुष्यों में परस्पर छोटे बड़े का भेद न हो और सर्वत्र केवल साम्यता का विशाल साम्राज्य ही दृष्टिगत होता हो। वैदिक संस्कृति व्यष्टि की नहीं समष्टि की प्रबल पक्षधर रही है। ऋग्वेद का वह उद्घोष इस बात का अप्रतिम दृष्टान्त है जिसमें कहा गया है—

**संगच्छ्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वं संजानाना उपासते ॥** [38]

अर्थात् समाज के सभी लोग मिलकर चलें, वैर-विरोध, कटुता आदि का परित्याग करते हुए एक दूसरे से प्रेमपूर्वक वार्तालाप करें तथा एक दूसरे के मनोभावों को समझते हुए सम्पत्तियों का समान विभाजन कर उनका उसी प्रकार सेवन करें जिस प्रकार देव गण यज्ञों में समर्पित हव्यान्म में से अपना-अपना हिस्सा ग्रहण करके सन्तुष्ट रहते हैं ॥

इसी प्रकार का भाव निम्न मंत्र में भी प्रकट किया गया है—

**समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासतु ॥** [39]

अथवा सभी लोगों के संकल्प एवं अभिप्राय एक से हों, हृदय एक समान हों, मन भी एक जैसे हों जिससे सभी प्रसन्नतापूर्वक मिल-जुल कर निवास करते रहें। निश्चय ही जिस समाज के लोगों में सुहृदयता का भाव जागृत हो जाता है और जहाँ के लोग पारस्परिक विरोधों को छोड़कर एक ही संकल्प पर ध्यान केन्द्रित करते हुए आगे बढ़ते हैं उससे बढ़कर सामाजिक उत्कर्ष का कोई दूसरा उदाहरण नहीं हो सकता। ऋग्वेद में उल्लिखित उक्त आदर्श वास्तव में बड़े उदात्त एवं सर्वथा ग्राह्य हैं।

श्रेष्ठ समाज की स्थापना के लिये अथर्ववेद भी ऋग्वेदोक्त विचारधारा को ही अधिमान देते हुए उसे स्वीकार्य मानता है। उसकी भी प्रबल मान्यता है कि किसी विशिष्ट समाज के अन्तर्गत निवास करने वाले मनुष्य परस्पर सहयोग की भावना से ज्ञानार्जन करे तथा समानतापूर्वक एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करे। उनका विचार तंत्र एवं उनके व्रत सिद्धान्त एक समान हो तथा हार्दिक भावनाएं और मन के संकल्प भी एक जैसे हों जिससे वे संगठित होकर अपने कार्यों को पूर्ण कर सकें। [40] वहाँ ऐसे विशाल राष्ट्र की कामना की गयी है जो निवास करने योग्य हो “अस्मभ्यं बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु” [41] तथा जहाँ का समाज सदैव श्रेष्ठ मानवों से भरा हो “नृभिः नृवन्तो स्याम्” [42]। समाज के लोग परस्पर एकहृदय, एकचित्त, और द्वेषरहित होकर रहें। वे एक दूसरे के प्रति इतना प्रेम करें जैसे गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है। [43] सभी एकचित्त से कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होकर सुखदायी वचनों का भाषण करें। सबका जल पीने का स्थान एक हों तथा अन्न का भाग भी साथ-साथ हो। वेद प्रतिपादित जिस ज्ञान को आत्मसात करके विद्वान् जन परस्पर द्वेष नहीं करते ऐसे वैदिक ज्ञान का सभी सतत रूप से श्रवण करें। सारे सामाजिक मिल कर ईश्वर की वन्दना करते हुए प्रातः और सांय सदैव हर्षित रहें। [44] इसके अतिरिक्त वेद यह भी शिक्षा देता है कि समाज का प्रत्येक आदमी स्वयं को पाप कर्मों से दूर रखे। [45] सभी मनुष्यों को प्रेरणा दी गयी है कि वे अपनी आत्म शक्ति एवं भावना को दृढ़ करते हुए

पापकर्म न करने का संकल्प करें तथा पाप से मुक्त होने के उद्देश्य से परम उपास्य परमेश्वर की आराधना करें। [46] अथर्ववेद ने निम्न मन्त्र के माध्यम से सामाजिक क्रिया-कलापों में संलग्न लोगों के लिये सदसद के विवेक से आलोकित ऐसा भव्य सन्देश प्रसारित किया है जिसकी उदात्तता अनिर्वचनीय है और व्यवहारिक जीवन के लिये जो अमृतसदृश है—

**सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसे पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत ॥** [47]

अर्थात् सभी लोगों को यह सत्य ज्ञान कहा जाता है कि सत्य एवं असत्य की प्रतिस्पर्धा इस विश्व में निरन्तर चल रही है। जो सत्य और सीधा है, उसकी रक्षा परमात्मा करता है और जो असत्य है उसका नाश करता है। निश्चय ही उक्त मन्त्र आर्ष प्रतिभा का मूर्तरूप कहा जा सकता है। जितनी स्पष्टता एवं सहजता से इसमें कर्तव्य पथ को विवेकित किया गया है वह असाधारण है। अपने जीवन काल में कार्याकार्य की विवेचना में असफल साधारण जनों के लिये उपर्युक्त मन्त्र निश्चय ही श्रेयस्कर संजीवनी है जो उसे सत्य के पथ पर चलने की दिव्य प्रेरणा देता है। सत्य मार्ग का अनुसरण और असत्य का परिहार करने वाला समाज ही निस्सन्देह राष्ट्र एवं विश्व निर्माण की दिशा में सकारात्मक भूमिका निभाने की क्षमता रखता है।

उक्त विवेचन के आलोक में कहा जा सकता है कि अथर्ववेद की सम्मति में लोगों की उदार सोच एवं तदनु रूप व्यवहार ही आदर्शमूलक समाज की सुदृढ़ आधारशिला तैयार करते हैं। निजी जीवन के छोटे-छोटे एवं महत्त्वहीन वैचारिक मतभेदों एवं तुच्छ व्यक्तिगत स्वार्थों को दरकिनार करते हुए यदि लोग समाज एवं राष्ट्र के हितों को साधने के लिये समष्टिभाव से मनसा-वाचा-कर्मणा कृतसंकल्प हो जाएं तो समूची मानवता का कल्याण सुनिश्चित है।

उपसंहार

वैदिक साहित्य अनादि काल से भारत वर्ष का गौरव रहा है। भारतीय संस्कृति प्राचीन ऋषियों के अनवरत चिन्तन एवं उनके तपोपूत मानस से उपजे दिव्य ज्ञान से आलोकित एवं सुवासित रही है। वर्तमान परिदृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन का मार्ग प्रशस्त करने वाले वैदिक जीवन मूल्य समय की निरन्तरता में कहीं खो से गये हैं। आज का व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होकर मात्र रह गया है, परिवार विघटन का दंश झेल रहे हैं और समाज चौर्य, अपहरण, भ्रष्टाचार, आतंकवाद एवं यौनापराध जैसी निन्द्य विसंगतियों का शिकार हो गया है। भारतीय संस्कृति में जीवन के लक्ष्यों के रूप में निर्धारित पुरुषार्थ चतुष्टय में आज मात्र अर्थ और काम नामक परुषार्थों का ही बोलबाला रह गया है शेष दो धर्म और मोक्ष तो जैसे उपेक्षा के गर्त में विलीन हो गये हैं। जीवन स्तर की अपेक्षा जीने के स्तर को अधिक अधिमान दिया जा रहा जिसके कारण साधन और साध्य की पवित्रता मानवीय समाज से तिरोहित हो रही है। एक सभ्य एवं सुव्यवस्थित समाज के लिये निर्धारित समस्त वर्जनाओं के साथ हम खिलवाड़ करने लगे हैं जिससे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निरंकुशता बढ़ रही है और बड़े पैमाने पर मर्यादाओं को विखण्डन हो रहा है। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिये अथर्ववेद में वर्णित उपर्युक्त सद्विचार निश्चय ही वर्तमान समाज की विसंगतियों एवं विषमताओं के निराकरण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

सन्दर्भिका

1. अथर्व. 8.1.4-6
2. वही 8.1.7
3. वही 3.5.5
4. वही 3.5.2

5. वही	1.34.2
6. वही	1.34.3
7. वही	1.20.1
8. वही	3.10.9
9. ऋ.	5.43.2
10. ऋ.	1.1.9
11. अथर्व.	20.8.2
12. वही	1.26.4
13. वही	18.3.67, 20.79.1
14. वही	14.2.24
15. वही	6.120.02
16. वही	3.30.2
17. वही	20.129.5
18. वही	1.31.4
19. वही	11.2.29
20. वही	3.30.3
21. वही	18.1.12
22. वही	18.1
23. वही	1.14.3
24. वही	14.2.26
25. वही	14.1.43
26. वही	14.1.44
27. वही	14.2.27
28. वही	14.2.26
29. वही	18.1.8
30. वही	14.2.7
31. वही	7.36,37.1
32. वही	14.1.51-53
33. वही	3.25.4-6
34. वही	14.1.21
35. वही	14.1.22
36. वही	3.30.5
37. ऋ.	9.63.5
38. वही	10.191.2
39. वही	10.191.4
40. अथर्व.	6.64.1-3
41. वही	3.8.1
42. वही	3.16.3
43. वही	3.30.1
44. वही	3.30.5-7
45. वही	3.31.1-11
46. वही	4.23-27
47. वही	8.4.12